International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.882, Volume 05, No. 01(III), January - March, 2023, pp. 287-292

वैदिक चिंतन में विधि व व्यवस्था का बोध

प्रो. पुष्पा चौधरी*

सार

प्राचीन भारतीय चिंतन का अध्ययन अनेकों पूर्वाग्रहों से प्रभावित रहा है। इसका एक कारण यह है कि भारतीय चिन्तन पर आध्यात्मिकता का प्रभाव अधिक होने के कारण उसकी राजनीतिक प्रकृति पर शंकाऐं की जाती रही है। दूसरा कारण यह रहा है कि अनेकों भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान पश्चिमी अवधारणाओं को केन्द्र में रखकर भारतीय चिन्तन के तत्वों का उस संदर्भ में अध्ययन कर उसका परीक्षण करते रहे हैं। सत्यता यह है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन में धर्म, नैतिकता, कर्त्तव्य, सामाजिकता एवं आध्यात्मिकता को परस्पर स्वतंत्र स्वायत्त व अन्तर्विरोधी न मानकर जीवन की एक समग्रीकृत, व एकभूत व्यवस्था के सम्पूरक तत्वों के रूप में चित्रित किया है। विधि की चेतना के विषय में वैदिक दृष्टिकोण चिन्तन के इसी अद्वितीय स्तर से प्रभावित व निर्धारित हुआ है।

शब्दकोशः *विधि, व्यवस्था, ऋत्, धर्म, लौकिक, चेतना*

प्रस्तावना

वेदों को भारतीय चिन्तन परम्परा का प्राचीनतम स्त्रोत माना जाता है। वैदिक चिंतन में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व नैतिक आयामों का वर्णन उपलब्ध है। हालांकि आयामों का उद्घाटन प्रतीकों एवं आख्यानों के माध्यम से ही हुआ है। सत्ता एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में भी वैदिक चिंतन में सत्ता के अद्वैत स्वरूप का प्रतिवादन करके एक विलक्षण दृष्टिकोण प्रतिपादित किया गया है। सत्ता के इस अद्वैत रूप का यह स्वाभाविक परिणाम है कि वेदों में व्यवस्था को एक समग्र रूप में चित्रित किया गया है। अतः सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक उपव्यवस्थाऐं परस्पर आत्मनिर्भर एवं सम्पूरक व्यवस्थाओं का बोध कराती है, परस्पर स्वतन्त्र अथवा पृथक–पृथक नहीं। ये उपव्यवस्थाऐं परस्पर पूर्णतः स्वतंत्र हो भी नहीं सकती है। बल्कि स्वायत्त हो सकती है। प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण विधि की चेतना के विषय में चिन्तन के इसी विलक्षण दृष्टिकोण से प्रभावित व निर्धारित हुआ है।

मानव की उत्पत्ति सृष्टि के विकास के उत्कर्ष पर पहुंचने पर हुई तथा मानव ने अपनी बुद्धि, विवेक एवं चातुर्य के उन्नत स्तर पर विधि की स्थापना की। उपस्थित परिस्थितियों एवं अवस्थाओं पर बुद्धि व विवेक का प्रयोग ही चातुर्य है। भय, निद्रा, क्षुधा, यौन आदि वृत्तियों के आधार पर कौटिल्य ने मानव को पशुओं की श्रेणी में रखा है किन्तु बुद्धि, विवेक व ज्ञान का संयोग होने पर मानव विशिष्ट श्रेणी प्राप्त कर लेता है। बुद्धि एवं ज्ञान स्वचेतना पर निर्भर है। विधि की स्थापना इसी स्वचेतना के आधार पर होती है।

---

* राजनीति विज्ञान, राजकीय कला महाविद्यालय, सीकर, राजस्थान।

ऋत्

प्राचीन भारतीय चिन्तन में विधि की चेतना को 'ऋत्' के माध्यम से समझा जा सकता है। 'ऋत्' शब्द से सूर्य, रात्रि, सांझ, दिवस, अग्नि आदि प्राकृतिक स्थिर एवं सुव्यवस्थित तत्वों की निश्चित व्यवस्था का बोध होता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन में इन सभी भौतिक तत्वों को देवताओं के रूप में चित्रित किया गया है। इन भौतिक तत्वों की ''ऋत्'' पर निर्भरता तथा साथ ही यह कथन कि 'ऋत' के कारण पृथ्वी दृढ़ता पूर्वक स्थिर की गई है इस तथ्य का बोध कराती है कि ऋत् उस भौतिक विधि का द्योतक है जो सृष्टि की भौतिक सत्ताओं को संचालित करती है। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन में 'ऋत्' को न केवल भौतिक सत्ताओं के नियमन तक सीमित माना है बल्कि यह घोषित किया गया है कि 'ऋत्' मनुष्य एवं देवता सभी पर बाध्यकारी है। सभी उससे बंधे हुये हैं। 'ऋत्' विधान के तीन उपादानों को व्यक्त करता है– सृष्टि, मानव और समाज। इन तीनों उपादानों के अनुरूप विधान के तीन संदर्भ परिभाषित किये जा सकते हैं। विधान, चराचर जगत के कारण रूप में सृष्टि का नियमन रूप है; विधान, मानवीय आचरण के मूल में मानवीय वृत्तियों पर इन्द्रियों का नियन्त्रण है और विधान, सामाजिक व्यवहार के आधार के रूप में आचरण का नियन्त्रण है। विधि की चेतना मात्र ही किसी व्यवस्था के अस्तित्व को सुनिश्चित नहीं करती। अपितु विधि को प्रवर्तित कराने हेतु प्राधिकृत सत्ता का विधि से संयोग विधिक चेतना को व्यवस्था में परिवर्तित कर देता है। वेदों में जहां ऋत के माध्यम से विधि की मूल चेतना को अभिव्यक्ति दी गई है, वहीं विधि के प्रवर्तन के निमित्त भी संस्थागत व्यवस्था का संकेत दिया गया है। इस घोषणा के साथ ही कि देवता व मनुष्य सभी ऋत् से बँधें हुए हैं, यह भी घोषित किया गया है कि 'ऋत' के उल्लंघन से होने वाले पाप का प्रतिकार देवता वरुण के प्रति आराधना द्वारा किया जा सकता है।[1]

वरूण सूक्त में वरूण में सत्ता का निधान करते हुए विधियों के प्रवर्तन के लिए उसे उत्तरदायी माना गया है। वरूण को ऐसे देवता के रूप में चित्रित किया गया है जो अपराधियों को दण्ड देता है तथा जिसके समक्ष सभी अपराधी पाश में बांधे हुए चले आते हैं।[2] इस प्रकार वैदिक चिंतन सत्ता की संकल्पना के माध्यम से व्यवस्था की ऐसी चेतना को व्यक्त करता है जिसमें विधि और उसके प्रवर्तन का दायित्व सुनिश्चित किया गया है।

प्राचीन भारतीय चिंतन में वस्तुतः प्रकृति से विधि व व्यवस्था के बोध का अभिज्ञान किया गया है तथा प्रकृति और लोक दोनों को विधियों की श्रृंखला से आबद्ध किया गया है तथा विधि के बल पर सुस्थिर व सुचारू की गई व्यवस्था से शासित होने की प्रार्थना की गई है। विधि व व्यवस्था के बोध के साथ ही विधि की आवश्यकता व औचित्य का प्रश्न जुड़ा हुआ है। विधि की वैदिक चेतना के लौकिक आयामों का उद्घाटन इन दोनों प्रश्नों का सन्तोषजनक समाधान करता है। वैदिक साहित्य में प्रारम्भ में इसे 'ऋत्' की संज्ञा दी गई तथा पश्चात्वर्ती प्रसंगों में इसे 'धर्म' कहा गया।

धर्म

धर्म लौकिक दृष्टि से सार्थक और सकारात्मक अवधारणा के रूप में स्पष्ट हुआ। आरम्भिक वैदिक साहित्य में भी धर्म शब्द का 'ऋत्' से पृथक उल्लेख मिलता है किन्तु पहले इसका प्रयोग मुख्यतः विधि और अध्यादेश के लौकिक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए होता था। धर्म के साथ 'ऋत' के संयोग के कारण उसके साथ नैतिकता और सद्गुण आदि के अर्थों का स्वाभाविक संयोग हो गया और इस प्रकार धर्म लौकिक अर्थ में एक प्रयोजन–परक व्यवस्था के मूल आधार के रूप में व्यक्त होने लगा। प्राचीन भारतीय साहित्य की विभिन्न शाखाओं जैसे वेद, उपनिशद्, स्मृतियाँ, महाकाव्य, नीतिशास्त्रों में धर्म को मानवीय आचरण के नैतिक आदर्शों, आध्यात्मिक कर्तव्यों, सद्गुणों, सत्य आदि को अन्तर्वलित किए हुए एक समवेत धारणा के रूप में प्रस्तुत किया है। सारतः धर्म उस सर्वोच्च विधि को व्यक्त करता है जिसके आधार पर मनुष्य का वैयक्तिक व सामाजिक आचरण संचालित किया जाता है तथा जिसके आधार पर सामाजिक व्यवस्था का संगठन व संचालन किया जाना है। इस प्रकार धर्म उचित और अनुचित के मध्य भेद का विवेक सम्मत आधार प्रस्तुत करता है और इस

अर्थ में मानवीय आचरण की मर्यादाओं के संदर्भ परिभाषित करता है। यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि मनुष्य का आचरण समस्त प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त कर दिया जाये तो ऐसी अवस्था में किसी भी मनुष्य द्वारा किया गया कोई भी कृत्य किसी भी आधार पर समीक्षा का विषय नहीं बनाया जा सकेगा। ऐसी स्थिति में जबकि मानवीय आचरण के कोई मापदण्ड ही नहीं होगें तो किसी कृत्य को अच्छा व बुरा कहने का तात्विक और तार्किक आधार नहीं होगा। ऐसी स्थिति में मनुष्य स्वेच्छा से किसी भी उद्देश्य की पुर्ति के लिए शक्ति का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र होगा। इस अवस्था में मनुष्य के द्वारा शक्ति के प्रयोग की जो सीमाऐं होगीं वे केवल व्यावहारिक होगीं। औचित्य जन्य नहीं होगीं। इसी अवस्था को भारतीय साहित्य में मत्स्य न्याय की संज्ञा दी गयी है।

धर्म की धारणा के बिना मानव–जगत में मात्स्य–न्याय की समाप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। धर्म मानवीय आचरण के मापदण्ड व मर्यादाऐं प्रस्तुत करके वह नैतिक आधार प्रदान करता है जिसकी कसौटी पर मानवीय आचरण को परखा जा सकता है तथा उन्हें नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित ठहराया जा सकता है। यदि धर्म को औचित्य के अभिनिर्धारण के आधार के रूप में स्वीकार कर लिया जाये तो अवधारणात्मक स्तर पर मात्स्य–न्याय से एक सर्वथा–भिन्न स्थिति का सृजन होगा। मात्स्य–न्याय में जहां स्वार्थ ही किसी कृत्य–विशेष के औचित्य के निर्धारण का एक मात्र आधार होता है, वहीं धर्म–आधारित न्याय में औचित्य का आधार–स्वार्थ नहीं अपितु समुदाय–सापेक्ष नैतिकता होगी। यहां तार्किक दृष्टि से यह भी विचारणीय है कि मात्स्य–न्याय की धारणा में स्वार्थ स्वतः प्रवर्तित नहीं होते; स्वार्थ के हित में भौतिक बल की प्रयुक्ति मात्स्य न्याय को संभव बनाती है। इस दृष्टि से धर्माधारित न्याय में सामुदायिक हेतु के साथ धर्म की नैतिक शक्ति का संयोग होगा। किन्तु धर्म की यह नैतिक शक्ति मात्स्य–न्याय को अवलम्ब प्रदान कर रही भौतिक शक्ति का प्रतिकार किये बिना प्रवर्तित नहीं हो सकती। अतः इस नैतिक शक्ति को अपने प्रवर्तन के लिए एक भौतिक अवलम्ब तथा एक ऐसी प्राधिकृत सत्ता की आवश्यकता है जिसके माध्यम से इस भौतिक शक्ति का सम्व्यवहार किया जा सके।

धर्म की नैतिक शक्ति को लागू करने के लिए भौतिक शक्ति व संस्थागत माध्यम की आवश्यकता अपरिहार्य है। अतः भौतिक शक्ति और संस्थागत माध्यम की खोज ही व्यवस्था की खोज है। व्यवस्था की खोज अनिवार्यतः विधि के बोध का परिणाम है तथा विधि का बोध व्यवस्था के बोध के बिना निरर्थक व शून्य है। इस प्रकार विधि व व्यवस्था के बोध में एक अनिवार्य पारस्परिकता व अन्योन्यश्रितता विद्यमान है।

प्राचीन भारतीय चिंतन में प्रकृतिगत व्यवस्था से विधि के बोध का प्रादुर्भाव माना गया है। इसी बोध के लौकिक रूपान्तरण द्वारा उसे लोक विधि के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वैदिक चिंतकों ने जिस देवीय सन्तुलन को 'ऋत्' की संज्ञा दी है वह विधि व विवेक पर आधारित एक व्यवस्था का बोध कराता है। इस प्रकृतिगत व्यवस्था की अभिव्यक्ति नैतिक निष्ठा के रूप में होती है और इसी के द्वारा मानवीय आचरणों को प्रतिबन्धित करने वाली विधि का बोध होने लगता है। राज्यसत्ता की आवश्यकता जितनी आन्तरिक अशांति को नियन्त्रित करने के लिए होती है उतनी ही बाह्य आक्रमण के कारण भी होती है। वेदों में इस तथ्य की पुष्टि करने के संकेत उपलब्ध हैं। डॉ. के.पी. जायसवाल ने राज्योंत्पत्ति का प्रसंग ऐतरेय ब्राह्मण से लिया। देवासुर संग्राम के संदर्भ के माध्यम से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि राजाओं के चुनाव का उद्देश्य बाह्य आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करना था। वेदों के व्याख्याकारों ने यह स्वीकार किया है कि देवासुर संग्राम एक रूपक है। असुर संज्ञा का प्रयोग राजनीतिक रूप से ब्राह्य आक्रमणकारियों के लिए हो सकता है। ऐतिहासिक रूप से इसका अर्थ भारत की उन जातियों के लिए भी हो सकता है जिनसे आर्यों को युद्ध करना पड़ा। मनोवैज्ञानिक रूप से इसका अर्थ मानव की कुत्सित वृत्तियों एवं आचरण से हो सकता है और सामाजिक रूप से दुष्ट और दुराचारी जातियों के लिए हो सकता है। सुर और असुर संज्ञाओं का स्थूल अर्थ क्रमशः मानव और प्रकृति दोनों के ही शिव और अशिव तत्व हैं।[3]

प्राचीन भारतीय चिंतन में विधि व व्यवस्था के बोध के लौकिक आयाम

वेदों में संसार की भौतिक वास्तविकताओं को देवताओं के रूप में चित्रित किया गया। इन्द्र, मित्र, सवित्र, वरूण, पूषन, यम, रूद्र, सोम, विष्णु, वैष्णव आदि अनेकानेक देवों की स्तुति की गई। वैदिक वर्णनों में यद्यपि ये वर्णन रूपकों की अतिरंजनाओं से मुक्त नहीं है, इन देवताओं के भिन्न–भिन्न आकार प्रकार व भिन्न–भिन्न गुण–धर्मों का चित्रण किया गया है। किन्तु इन सब देवताओं का मानव जीवन के किसी न किसी पक्ष से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। अपने विशिष्ट गुण धर्मों का निर्वाह करते हुए विशिष्ट देव इन संस्थाओं को सुदृढ़ करते थे। इन देवताओं में पारस्परिक द्वन्द्व भी विद्यमान थे। स्वयं इन देवों को अनुशासन में रखने तथा उनकी प्रत्येक गतिविधि को लौकिक दृष्टि से सार्थक व उपादेय बनाये रखने के लिए एक सत्ता की आवश्यकता स्वाभाविक रूप से होती है। मनुष्य जो कि इन देवताओं की आराधना कल्याण की भावना से करने हेतु प्रवृत होते, स्वाभाविक रूप से इस विभ्रम से ग्रस्त हो जाते कि वे इनमें से किस देवता की आराधना करें? इसी विस्मय के अतिरेक से ''कस्मैदेवायहविषाविधेम'' जैसा प्रश्न उपस्थित हुआ। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में बहुदेववाद पर एक स्पष्ट प्रश्न चिन्ह लगाया गया और ''पतिरेक आसीत्''[4] की उक्ति के माध्यम से एक सर्वोच्च सत्ता की उद्घोषणा की गई। सभी देवों को इसी सत्ता की अधीनता प्रदान कर दी गई और इस प्रकार यह देवता अपने स्वामी के अनुशासन के अधीन हो गए। कठोपनिषद में तो यहां तक कह दिया गया है कि उस एक स्वामी के भय से अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और यम सब भाग भाग कर कार्य करते हैं।[5] सृष्टि में विधिक शासन की चेतना का यह अद्भुत चित्रण है। विधिक चेतना के आधार पर ही बहुदेववाद की सत्ता को एकात्मकता में परिणत कर दिया गया।

''कस्मैदेवाय हविषाविधेम'' के बोध से यह आशय नहीं है कि यह देव हविष् के लिए परस्पर युद्ध करते थे, वरन् नैसर्गिक नियम के अधीन उन विभिन्न संस्थाओं का प्रकट व्यापार देखकर ही कानून की एकसत्तात्मक चेतना का उदय हुआ। वैदिक देवलोक में विधि की इन विभिन्न संस्थाओं को किसी एक सर्वोच्च विधि के अधीन करके निसर्ग में व्यवस्था की कल्पना की जा सकती थी।[6]

एकेश्वरवाद से सत्ता के केन्द्रीयकरण की ओर प्रस्थान अब अधिक सरल हो गया। यही राज्यसत्ता का एकतन्त्रीय रूप अब विधि की सत्ता का चरम बोध बन गया। राज्य की विभिन्न गतिविधियां केवल विधि की केन्द्रीभूत एकात्मकता का निर्वाह करती है।

प्रारम्भिक काल में राज्य–सत्ता का एकतंत्रीय रूप अधिक प्रबल था। सम्भवतः राजा एक कुलपति के रूप में संपूज्य समझा जाता था। मनु और आदम अपने युग में अपने वंश के कुलपति के रूप में ही प्रतिष्ठित थे। दो विभिन्न कुलपतियों की तुलनात्मक दुर्बलताऐं, केवल विधि की अविकसित चेतना का परिणाम थी।[7] अथर्ववेद में सेना जैसी संस्था का स्पष्ट उल्लेख है, जिससे सैन्य शक्ति और आरक्षी दल दोनों का ही बोध होता है। आन्तरिक उपद्रवों का शमन और बाह्य आक्रमण से रक्षा इसी संस्था के अधीन थे जिसमें विधि का बल निहित था।[8]

एकतन्त्रीय राज्य के अभाव में कुलपति परस्पर युद्धरत रहा करते थे जो विधि के अविकसित स्वरूप का लक्षण था। एकतन्त्रात्मक शासन में विधि की सर्वोच्च सत्ता प्रतिष्ठित हो गई और इन कुलपतियों के विश्रृंखल व्यवहार पर अंकुश लग गया। कुलों और कबीलों के सर्वसम्मत होने पर एक राज्य–पुरूष की प्रतिष्ठा हुई और समस्त शारीरिक शक्तियां इसके अधीन हो गई। राज्य–पुरूष और दण्ड पुरूष एकीभूत शक्ति पुंज हो गए। शरीर–बल का स्थान विधि बल ने लेकर एक चमत्कार किया और मात्स्य–न्याय की समाप्ति हो गई। दुर्बल अब भयभीत नहीं था। यहां तक कि शूद्र जाति का एक रजक भी राजा रामचन्द्र की भय विमुक्त आलोचना करने में स्वतंत्र था। यह विधि के बोध का प्रताप था, जिसने प्रजा को राजा की ओर से अभय दान दिया था। यह विधिक चेतना राजा से भी उच्च हो गई। जो राजा को भी प्रताड़ित कर सकती थी। जहांगीर ने एक बैल की भी फरियाद सुनकर उसे न्याय दिया था। मनुस्मृति के सप्तम् अध्याय के अनुसार विधि का अतिक्रमण करने वाला राजा भी विनष्ट होकर नरक की अनन्त यातना झेलता है।[9] राज्य–सत्ता का निर्वाह विधि–बल पर ही होता है।

इसका प्रमाण देते हुए श्री के.पी. जायसवाल ने महाभारत से एक शपथ का प्रारूप उद्धृत किया है, जिसके द्वारा राजा विधि की रक्षा की शपथ लेकर ही सिहासनारूढ़ होता था और प्रजा उसे साधुवाद प्रदान कर जय–जयकार करती थी। यह राजा का नहीं विधि का जय–जयकार था। राष्ट्रपाल और न्यायपालों को विधि की रक्षा की शपथ दिलाकर भारतीय संविधान ने उसी परम्परा का निर्वाह किया है।[10] विधि ही राज्य का साध्य है, उसकी स्थिति राज्य से पूर्व है। वह राज्य का कारक है।[11]

सुरक्षा का आधार सन्तुलन है। सुरक्षा के लक्ष्य से ही मानव अतिशयता को नियन्त्रित रखने को इच्छुक हुआ। नैसर्गिक अतिशयता को सन्तुलित रखने हेतु ही उसे विधि की आवश्यकता अनुभव हुई। अतिशयता को नियन्त्रित करने की अनुभूति से ही विधि की चेतना का अभ्युदय हुआ।[12] सृष्टि के अनुकूल आचरण का अर्थ प्राकृतिक सुख की प्राप्ति नहीं है। सुख की चेतनता के अभाव में प्राकृतिक सुख निरर्थक है। केवल सुख के लिए सुख की कल्पना भीषण से भीषणतर चार्वाक के लिए भी असम्भव है। उदाहरणार्थ भोजन का लक्ष्य केवल उदरपूर्ति नहीं वरन् किसी चैतन्य की तृप्ति होती है। अतृप्त चैतन्य खाकर भी अतृप्त रह सकता है, बिना खाये अथवा किसी अन्य को खिलाकर भी उसे तृप्ति का आभास हो सकता है। तृप्ति अन्न में नहीं चेतना में होती है और इस प्रकार की तृप्ति के लिए अन्न की आसक्ति का त्याग आवश्यक है। तभी सृष्टि की अनुकूलता प्राप्त हो सकती है। मानव कानून का निर्माण अपने कर्म संचालन हेतु करता है और तभी अपने जीवन का निर्वाह करता है। यही सार्वजनिक नियति है। इस अनुकूलता के सभी भागीदार हैं, इस अभीष्ट पर किसी का एकाधिकार नहीं है यही विधिक आचरण है। इस प्रकार विधिक चेतना से मानव ने अपने प्राकृतिक आचरण की संहिता बनाई और विधिक तत्व की खोज की। इस प्रकार विधि एक अतिमानवीय निसर्ग की स्थापना करके मानव के सीमित निसर्ग का व्यापक एवं उसकी चेष्टाओं के स्वार्थ को परमार्थ में विलीन करने में सक्षम हुई। इस प्रकार प्राकृतिक मानव विकसित हुआ।

प्राकृतिक मानव के विधिक मानव में परिवर्तन को चारू परिवेश में अभी तक नहीं रखा गया है। पश्चिमी विचारकों ने आदिम अवस्था को प्राकृतिक अवस्था के रूप में चित्रित किया है। जिन दृष्टाओं का वैदिक आधार है उन्होंने इसे आतंक की अवस्था बताया। कौटिल्य ने इसे मत्स्य न्याय की संज्ञा दी। सामाजिक समझौतावादी विचारकों में मानव की प्राकृतिक अवस्था के विषय में मतभेद होने पर भी सभी इस सीमा तक एकमत हैं कि इन आदिम मानवों में विधिक जीवन का आरम्भ सर्वसम्मत होकर एक समुदाय का गठन करके तथा अधिकारों की व्याख्या करके सत्ता के निश्चित हस्तान्तरण की प्रक्रिया द्वारा हुआ होगा। हॉब्स ने इस सर्वसम्मति को संप्रतिज्ञा, लॉक ने इसे समझौता और रूसो ने इसे संवचन का नाम दिया।

तुलनात्मक रूप से विधि सामाजिक अस्तित्व की आवश्यकता पर अधिक आधारित नहीं है अपितु वैयक्तिक जीवन के सत्य के रूप में अधिक प्रतिष्ठित है। समाज की परिधि का निर्माण मानव के वैयक्तिक जीवन के यथार्थ से ही होता है तथा मानव की वैयक्तिक समस्याओं का निदान करना ही सामाजिक व्यवस्था का सारतत्व है। अपने–अपने अधिकार और दायित्वों की कल्पना ही विधि की वह मूल चेतना है जो मनु और शतरूपा को सहज ही हो गई थी। सृष्टि विद्या से ही इसका उदय हुआ।

विधि व व्यवस्था का बोध तथा भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सामान्य प्रकृति

विधि की चेतना का प्रारम्भ मानवीय आचरण के सार्थक नियमन की आवश्यकता की अनुभूति मात्र है तथा विधि का प्रखर लक्षण आचरण–बोध के आयामों का प्राधिकृत सत्ता द्वारा सूत्रबद्ध उद्घोष है। विधि के प्रवर्तन के निमित्त सत्ता द्वारा किये प्रक्रिया सम्मत और प्रयोजन परक व्यवहार तथा सत्ता के सम्व्यवहार की रीति आदि व्यवस्था का बोध कराते हैं। इस प्रकार विधि, सत्ता और व्यवस्था के मध्य अनिवार्य पारस्परिकता है।

विधि की सर्वोच्चता

विधि की प्रतिष्ठा के लिए भारतीय चिन्तन में सत्ता को एक अनिवार्य उपादान माना गया है। किन्तु विधि की अपेक्षा शक्ति अथवा सत्ता को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। विधि की स्थापना के लिए सत्ता की आवश्यकता होती है। शक्ति या सत्ता किसी भी स्तर पर स्वयं विधि नहीं बन सकती। विधि की इस निरपवाद

प्रतिष्ठा के माध्यम से ही भारतीय चिंतन में विधि के शासन के विचार को अभिलक्षित किया गया है। साथ ही यह स्पष्ट किया गया है कि सत्ता द्वारा शक्ति का सम्व्यवहार विधि सम्मत प्रयोजनों से किया जायेगा तथा विधि सम्मत रीति से ही किया जायेगा। भारतीय चिन्तन में विधि को सर्वोपरि मानते हुए शासक के निजी हितों, निजी चेतना व निजी पूर्वाग्रहों की अपेक्षा उन प्रयोजनों व मन्तव्यों को ही उचित व वैध माना गया है जो विधिक चेतना के आधार पर परिभाषित किये गये हैं।

निष्कर्ष

भारतीय चिन्तन में प्रकृति से विधि की चेतना के उद्भव की परिकल्पना के माध्यम से जहां एक ओर प्राकृतिक विधि और लोक विधि के मध्य नैसर्गिक सम्बन्ध का संकेत दिया गया। वहीं उसके माध्यम से सत्ता के अद्वैत स्वरूप को व्यक्त करने का भी प्रयास किया गया। इस प्रकार मानव जीवन के विभिन्न आयामों जैसे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक के सार्थक नियमन तथा संसार के भौतिक तत्वों के नियमबद्ध संचालन के लिए एक ही मूल सत्ता को उत्तरदायी माना गया। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में सत्ता के अद्वैत रूप में विधि के बोध और सत्ता के माध्यम से विधि को व्यवस्था में परिणित कर देने के संकल्प की अभिव्यक्ति एक विशिष्ट लक्षण को प्रतिष्ठापित करती है। विधि अनुशासन का वह उच्चतम आदर्श है जिसमें पारिवारिक जीवन के अभ्युदय के पश्चात् मानव की सम्पर्क वृत्ति को सर्वाधिक पूर्णत्व प्राप्त हुआ है। विधिक चैतन्यता के आधार पर मानव अपने प्राकृतिक आचरण की एक संहिता बनाता है और स्वार्थ को परमार्थ में विलीन करने में सक्षम हो जाता है। इस प्रकार वैदिक चिंतन में विधि को सत्ता या शक्ति माना गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद, 7, 1, वरूण सूक्त– 12
2. ऋग्वेद – वरूण सूक्त
3. चतुर्वेदी मधुकर श्याम – प्राचीन भारत में राज्य व्यवस्था–1986, अनुसंधान व विशद अध्ययन संस्थान, जयपुर पृष्ठ–44.
4. ऋग्वेद – मण्डल–10
5. कठोपनिषद् – 2
6. चतुर्वेदी मधुकर श्याम – पूर्वोक्त, 75
7. वृहदारण्यक उपनिषद् 1, 4, 14
8. अथर्ववेद – 15, 2, 9
9. मनुस्मृति – 7, 16
10. चतुर्वेदी मधुकर श्याम – पूर्वोक्त, 76
11. वही पृष्ठ – 77
12. वही पृष्ठ – 63

❖◆❖